

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण संरक्षण : दक्षिणी राजस्थान की जनजातियों के विशेष सन्दर्भ में

* दिनेश चन्द शर्मा

शोध सारांश

भारतीय संस्कृति सहस्राब्दियों से प्रकृति की स्नेहमयी गोद में पल्लवित और पुष्पित हुई है। प्रकृति की विशिष्ट रचनाओं जैसे पर्वत, पठार, मरुस्थल, समुद्र, वन इत्यादि सभी भारत देश में विद्यमान हैं और इन्होंने भारत को विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया है। भारत वन संसाधनों और वन्य जीवों की दृष्टि से भी समृद्ध है। सम्पूर्ण विश्व में जैव विविधता की दृष्टि से भारत दूसरे स्थान पर है। विश्व में जैव विविधता के कुल 34 'हॉटस्पॉट' हैं, उनमें से तीन भारत में हैं – पूर्वी हिमालय, भारत-बर्मा क्षेत्र और पश्चिमी घाट। इस तरह भारत पर्यावरणीय दृष्टि से सम्पन्न राष्ट्र है। लेकिन यह पर्यावरणीय संस्कृति एकाएक उत्पन्न नहीं हुई है। इसमें भारत के निवासियों का महत्वपूर्ण योगदान है; जिन्होंने पर्यावरणीय तत्वों जैसे – वृक्ष, जल, भूमि इत्यादि को स्वयं से बढ़कर माना और इनके संरक्षण के लिए प्रयास किए।

भारत में खाद्य संग्राहक अवस्था और आखेटक संस्कृति के समय से ही मनुष्य ने पर्यावरण के साथ अपने संबंध विकसित किए। नदियों के समीप निवास स्थान, अस्थि-प्रस्तर उपकरण इत्यादि प्रकृति के सामीप्य की प्रारम्भिक अवस्था थी। 'विंध्याचल के शैलाश्रयों और गुफाओं में अनेक ऐसे प्रागैतिहासिक चित्र मिले हैं, जिनमें आखेट, नृत्य और युद्ध की गतिविधियाँ प्रदर्शित की गई हैं। ये सभी मानव और प्रकृति के निकटतम सम्बन्धों को दर्शाते हैं। आधुनिक जनजातियों के अध्ययन से इस बात का पर्याप्त प्रमाण मिल गया है कि बड़े-बड़े स्तनधारियों का आखेट, अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत अधिशेष (नतचसने) की संकल्पना के साथ निकट से जुड़ा है। इस तरह आखेटक संस्कृति प्रकृति के लिए विनाशक नहीं, अपितु उसके साथ सामंजस्य की प्रक्रिया थी। भारत में पाषाणकाल का आविष्कार, पशुओं के उपयोग की जानकारी और स्थिर ग्राम्य जीवन का विकास है। इस चरण में 'कुत्ते, भेड़िये और जंगली बकरी जैसे पशुओं के शवाधान भी मिले हैं। ये सब प्रकृति और मानव के अन्तर्सम्बन्धों को और अधिक गहराई से दर्शाते हैं। वस्तुतः प्रकृति के जो तत्व मानव विकास में सहायक थे, मानव ने उनसे अधिक निकटता स्थापित कर ली थी। भारत की प्राचीन काल की सबसे महत्वपूर्ण सभ्यता 'हड़प्पा' से प्राप्त मातृदेवी की मृणमूर्ति, हवन कुण्ड, मुहरों पर बने विभिन्न चित्राक्षर – जैसे आदिम शिव इत्यादि से यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि तात्कालिक मनुष्य ने प्रकृति के साथ पूर्णतः सामंजस्य स्थापित कर लिया था और आवश्यक तत्वों के संरक्षण के प्रयास भी उसके द्वारा किए गये।

वैदिक संस्कृति ग्रामीण संस्कृति थी, जो पूर्णतः पर्यावरण संरक्षण से संबंधित थी। इस काल में 'वैदिक ऋषि-महर्षि एवं तत्व विज्ञानियों ने पर्यावरणीय-घटकों के माहात्म्य और उनमें प्रच्छन्न रूप से समाहित देवत्व से साक्षात्कार किया, ... वैदिक चिन्तन सन्त्रस्त मानवता के लिए रक्षा कवच है और आधुनिक भयातुर, उद्विग्न मानव को पर्यावरण के प्रति व्यावहारिक प्रेरणा देकर समस्याओं के समाधान के लिए प्रामाणिक और समीक्षात्मक गवेषणा प्रस्तुत करता है। वैदिक काल में कृषि-कार्य की प्रक्रिया पूर्णतः वैज्ञानिक थी। उसमें प्रकृति प्रदत्त साधनों का उचित ढंग से उपयोग किया जाता था। उस समय के वनस्पति विशेषज्ञ फसल उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रयासरत थे। पर्यावरण संरक्षण के प्रति वे काफी चिंतित थे और प्रकृति के विनाश को रोकने के प्रति पूर्ण सचेत रहते थे। उस समय जैविक साधनों से भूमि उपचार कर फसलों के संरक्षण की ओर उचित ध्यान दिया जाता था। 'ऋग्वेद में भी ऊसर भूमि को किरणों के उपचार से पुनः उर्वरक बनाने की क्रिया बतलाई गई है। वेदों में उल्लेख है कि बादलों के गरजने से विद्युत के प्रभाव से नाइट्रोजन के उर्वर यौगिक बनते हैं, जिससे वनस्पतियों को शक्ति मिलती है।

वैदिक ऋषियों ने प्रकृति के समस्त उपकारक तत्वों में देवत्व का समावेश माना है और उन्हें देव कहकर उनके महत्व को प्रतिपादित किया है, साथ ही मनुष्य के जीवन में पर्यावरणीय महत्व को भली भाँति स्वीकार किया है।

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण संरक्षण : दक्षिणी राजस्थान की जनजातियों के विशेष सन्दर्भ में

दिनेश चन्द शर्मा

पर्यावरण को संतुलित रखने के लिए जन देवताओं की महत्वपूर्ण भूमिका है – सूर्य, वायु, वरुण एवं अग्नि देवताओं से रक्षा की कामना की गई है। ऋग्वेद में 'वरुण' को ऋतस्य गोपा कहा गया है। ऋत की व्याख्या सृष्टि की नियमितता और नैतिक व्यवस्था के रूप में की गई है अर्थात् केवल पृथ्वी के पर्यावरण की ही नहीं अपितु सम्पूर्ण सृष्टि के पर्यावरण संरक्षण की मनोकामना की गई है।

वैदिक साहित्य में पृथ्वी को माता कहकर सम्बोधित किया गया है –

माता भूमिः पुत्रो हं पृथिव्या

अथर्ववेद में जल को अमृत स्वरूपा औषधि का प्रतीक माना गया है। इसमें वर्णन किया गया है कि अश्वत्थ, वटवृक्ष, अर्जुन और शिखण्डी के वृक्ष जल को प्रदूषण मुक्त रखते हैं। ब्रह्मपुराण व वायुपुराण में वातावरण को प्रदूषण मुक्त करने के लिए ढाक, पीपल, वट, पाकर, बेंत, गुलर, चन्दन, देवदारु व कत्था इन वृक्षों की लकड़ियों को काष्ठ कहा है। क्योंकि इनमें पर्यावरण शोधन का कार्य करती है। वैज्ञानिक प्रयोगों से यह प्रमाणित हो चुका है कि यज्ञ अनेक खतरनाक रोगों की अचुक दवा है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में 'महत उल्ब' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसे वर्तमान में ओजोन परत कहते हैं, जो पृथ्वी पर सूर्य की किरणों के प्रभाव को रोकने में सक्षम है।

मत्स्य पुराण में एक वृक्ष को दस पुत्रों के समान मानकर वृक्ष की महत्ता स्थापित की गई है

दशकूपसमा वापी दश वापीसमो ह्रदः।

दशह्रदसमः पुत्रः दशपुत्र-समोद्भूतः।।

वर्तमान में पर्यावरण संरक्षण से संबंधित अनेक विधान निर्मित किए गये हैं। प्राचीनकाल में मनुस्मृति में यह विधान था कि वृक्षों और वनस्पतियों का संवर्धन राज्य का और जनता का कर्तव्य होगा। वनस्पतियों का सर्वोत्तम उपयोग करने का विधान राज्य का कर्तव्य है, साथ उनके दुरुपयोग पर, उन्हें काटने पर, उन्हें हानि पहुँचाने पर दण्ड की व्यवस्था राज्य इस प्रकार करेगा कि अधिक उपयोग वृक्ष या वनस्पति के विनाश पर अधिक दंड दिया जाए।

वनस्पतीनां सर्वेषामुपयोगं यथा यथा।

तथा तथा दमः कार्यो हिंसायमिति धारणा।।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति में पर्यावरण का मानव से निकटतम संबंध माना है और स्वच्छ पर्यावरण को मानव विकास में सहायक स्वीकार किया है। इन निमित्त विभिन्न उद्घोषणाएँ भी की गई हैं। भारतीय संस्कृति में केवल मानव का नहीं, केवल भारत का नहीं, अपितु सम्पूर्ण प्राणिमात्र और सम्पूर्ण सृष्टि के कल्याण की मनोकामना की गई है। महाकवि कालिदास के नाटकों, जैन साहित्य, बौद्ध साहित्य, आयुर्वेदिक ग्रन्थों, विभिन्न ऐतिहासिक ग्रन्थों सभी में पर्यावरणीय संरक्षण की यह चेतना दृश्यमान होती है।

पर्यावरण संरक्षण की भारतीय संस्कृति इस अनुठी विशेषता को राजस्थान के जनजाति वर्ग ने भी सहेजकर रखा है। जनजाति विशेषज्ञ डॉ. बी.एस. गुहा ने राजस्थान की जनजातियों का वर्गीकरण करके इन्हें तीन प्रमुख क्षेत्रों में बाँटा है – (1) दक्षिणी-पूर्वी क्षेत्र (2) पश्चिमी क्षेत्र (3) दक्षिणी क्षेत्र।

दक्षिणी क्षेत्र के अन्तर्गत राजस्थान डूंगरपुर, बाँसवाड़ा, प्रतापगढ़, उदयपुर जिले तथा चित्तौड़गढ़, सिरोही, राजसमन्द जिलों के कुछ भाग सम्मिलित हैं। इस क्षेत्र में पाई जाने वाली जनजातियों में भील, मीना, गरासिया तथा डामोर मुख्य हैं। ये जनजाति वर्ग प्राचीन काल से यहाँ निवास कर रहे हैं और इस क्षेत्र में पर्यावरण संरक्षण में अपने नैतिक क्रियाकलापों के माध्यम से महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन्होंने आरम्भिक काल से ही प्राकृतिक पर्यावरण का अंग तथा प्रकृति का एक घटक बनकर जीवनयापन किया है।

इस क्षेत्र में भील जनजाति प्रमुख है। अर्थात् इन्हें विदेशी मानते हैं। उनके मतानुसार आर्यों के आक्रमण ने इन्हें वनों का निवासी बनाया। इसके विपरीत कर्नल जेम्स टॉड इन्हें यहीं का मूल निवासी मानते हैं तथा इन्हें 'वनपुत्र' कहकर सम्बोधित करते हैं। माणिक्यलाल वर्मा के अनुसार ये मुख्यतः पहाड़ों और जंगलों में बसते हैं, जहाँ उनके भाग्य ने उन्हें कभी खदेड़ दिया था। वस्तुतः उत्पत्ति के सम्बन्ध में पर्याप्त भिन्नता है लेकिन 'वन का निवासी' होना

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण संरक्षण : दक्षिणी राजस्थान की जनजातियों के विशेष सन्दर्भ में

दिनेश चन्द शर्मा

इनकी महत्वपूर्ण विशेषता है। अपने प्रारम्भिक काल से इन्होंने प्रकृति का सामीप्य स्वीकार किया है और सतत् निर्वाह पद्धति का अनुसरण कर वन सम्पदा का दोहन किया है। इस तरह पर्यावरण संरक्षण में इनका विशेष योगदान है।

दक्षिणी राजस्थान का यह जनजातीय क्षेत्र पहाड़ियों से आवृत है तथा प्राकृतिक सम्पदा से परिपूर्ण है। वर्तमान में भौतिक संस्कृति के प्रसार से प्राकृतिक सम्पदाओं का अतिदोहन हुआ है, लेकिन इस क्षेत्र में जनजातीय वर्ग ने इस अमूल्य धरोहर को संरक्षित किया हुआ है। संबंधित शासकों ने भी जनजातीय वर्ग का इन पर्यावरणीय परम्पराओं में हस्तक्षेप नहीं किया। हालांकि ब्रिटिश शासन स्थापित होने के बाद यहां जंगल काटे जाने लगे, लेकिन जनजातीय वर्ग द्वारा इसका व्यापक विरोध किया गया।

प्रारम्भिक काल से ही 'जनजातीय' लोगों का जीवन मुख्यतः खेती व जंगलों के उत्पादों पर आधारित था। इन लोगों का निवास स्थान विशिष्ट होता है। ये लोग पाल कहे जाने वाले गाँव में बसते हैं, जो बिखरे हुए झोंपड़ी का समूह होता था। पूरी पाल का मुखिया गमेती कहलाता है। इनके झोंपड़े पहाड़ी की ढलान पर मिट्टी व पत्थरों से बने चबूतरों पर बनाया जाता है। ये आवास पथरीली एवं बंजर भूमि में ही स्थापित किए जाते हैं। जिससे वृक्षों को कोई हानि नहीं पहुँचे। इन आवासों के निर्माण के साथ-साथ इनकी सजावट में भी पर्यावरण संरक्षण का विशेष ध्यान रखा जाता है। सम्पूर्ण पेड़ को न काटकर उसकी टहनी, पत्तों से सजावट का कार्य किया जाता है तथा पक्षियों द्वारा गिराए हुए पंखों का उपयोग किया जाता है। इस तरह इनके आवास प्रकृति से पूर्ण सामंजस्य स्थापित किए हुए होते हैं।

इस क्षेत्र के जनजातीय लोगों का मुख्य भोजन मक्का होती है। इसके अलावा अन्य खाद्यान्न भी उपयोग में लिए जाते हैं। श्यामलदास के अनुसार 'अन्नो की अपेक्षा वे कुरी, कोदरा, माल व शमलाई जैसे जंगली व निम्न किस्म के अनाज का उपयोग अधिक करते हैं। ये मांसाहारी भी होते हैं, उत्सव के समय मांस खाया जाता है। लेकिन कुछ चीजें ऐसी हैं जिन्हें ये लोग बिल्कुल नहीं खाते, जैसे – कुत्ता, बंदर, घड़ियाल, छिपकली, चूहे व साँप का मांस। कुत्ता शिकार में उनका सतत् साथी होता है व बंदर हनुमान के रूप में सर्वत्र पूजा जाता है, इसलिए इनका भक्षण वर्जित है। इसके अलावा ये लोग ऊँट व मोर का मांस भी नहीं खाते, क्योंकि मोर माता के लिए पवित्र माना जाता था जिसकी वे पूजा करते थे। इस तरह इन्होंने वन्य प्राणियों को अपने क्रियाकलापों एवं धार्मिक आस्थाओं से संबंधित कर लिया जो कि संरक्षण में हितकारी साबित हुआ।

ये जनजातियाँ अपने खेतों की मेड पर भी वृक्ष एवं पौधे लगा देते हैं, जिससे एक ओर इनके खेतों की सीमाएँ निर्धारित हो जाती है, दूसरी ओर वृक्षारोपण को भी महत्व मिलता है। इससे मृदा अपरदन पर भी रोक लगती है। इनके द्वारा स्थानान्तरित कृषि 'वालरा' की जाती है जिसके संबंध में अंग्रेज प्रशासकों द्वारा तर्क दिया गया कि ये जंगल को नुकसान पहुँचाते हैं। लेकिन वास्तव में ये सतत् निर्वाह प्रणाली पर आधारित है। जितना इस कृषि से वनों को नुकसान पहुँचाता है, उससे कहीं अधि वनों का संरक्षण कर ये उसकी भरपाई कर देते हैं। ये जनजातीय लोग वनस्पतियों की अनेक प्रजातियों से परिचित हैं जिनका प्रयोग ये औषधीय रूप में करते हैं तथा अपने घरों में एंव आस-पास इनका संरक्षण करते हैं। इनके द्वारा वर्षा का जल संरक्षण तालाब, छोटे तटबन्ध, एनीकट इत्यादि बनाकर किया जाता है।

इस जनजातीय क्षेत्र में अनेक लोकसंतों ने अपने उपदेशों के माध्यम से पर्यावरण संरक्षण के प्रयास किये। इन संतों के माध्यम से ये हिन्दू धर्म के नजदीक आये तथा प्रेरित और प्रभावित हुए। 18वीं सदी के प्रारम्भ में इनमें सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, भी इनमें पहले संत थे मावजी महाराज। इनकी प्रेरणा से भील लोगों ने अहिंसा, संयम और शाकाहारवाद की शिक्षा ग्रहण की। इन्होंने बेणेश्वरधाम को लोकप्रिय बनाया, जो आदिवासियों का महाकुम्भ माना जाता है। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में संत सुरमाल दास ने इन्हें किसी भी जीवधारी की हत्या से दूर रहने की शपथ दिलाई। इन संतों के प्रयासों से इनके संस्कृतिकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। 20वीं सदी के प्रारम्भिक दशक में गुरु गोविन्द गिरी द्वारा सामाजिक सुधार एवं राजनैतिक जागृति का व्यापक आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। 'इन्होंने धार्मिक आचार संहिता बनाई, जिसकी पालना प्रतिदिन करनी होती थी। इसमें जीव हिंसा नहीं करने, प्रतिदिन हवन करने, प्राणीमात्र से प्रेम रखने जैसे सिद्धान्त सम्मिलित थे।

इस तरह दक्षिण राजस्थान के जनजातीय क्षेत्र का पर्यावरण संरक्षण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जो भारतीय संस्कृति की पर्यावरणी चेतना को और आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण साधक बना हुआ है। वर्तमान में इस क्षेत्र के

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण संरक्षण : दक्षिणी राजस्थान की जनजातियों के विशेष सन्दर्भ में

दिनेश चन्द शर्मा

जनजातीय वर्ग में भौतिकवादी तत्वों का समावेश हुआ है। स्वयं को आधुनिक कहलवाने के चक्कर में ये पर्यावरण से विमुख भी हुए हैं। लेकिन फिर भी आस्था और परम्परा के माध्यम से ये पर्यावरण संरक्षण को निरन्तर बनाए हुए हैं। देवी-देवताओं के थान के आस-पास आज भी वृक्षों की कटाई बन्द है, यह क्षेत्र 'ओरण' कहलाता है। 'इनकी संस्कृति मूलतः अरण्य संस्कृति है। वन एवं वन्य जीवों को इन्होंने अपने ही परिवार का अंग माना है और स्वयं की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए सदैव वनों को सुरक्षित करने का सद्प्रयास किया है।

वर्तमान में विकास की अंधी दौड़ के फलस्वरूप इस क्षेत्र में सरकारी योजनाओं के क्रियान्वयन में वनों को हानि पहुंची है। इन जनजातीय लोगों के पर्यावरण को भी हानि पहुंची है। इस पर विचार किया जाना आवश्यक है। हालांकि सरकार द्वारा अधिकांश क्षेत्रों को संरक्षित क्षेत्र घोषित किया गया है। लेकिन आदिवासियों एवं वनवासियों के सहयोग से ही वनों की प्रभावी सुरक्षा होगी तथा पर्यावरण संरक्षण हेतु अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य होगा।

****शोधार्थी**

**इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर**

सन्दर्भ

संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (संयुक्त) के अनुसार जैव विविधता विशिष्टतया आनुवंशिक प्रजाति तथा पारिस्थितिकी तंत्र के विविधता स्तर को मापना है।

वह क्षेत्र जो वनस्पति और जीवन जंतुओं के मामले में बहुत समृद्ध है और जैव विविधता को पालने का कार्य करता है।

ज्ञा, द्विजेन्द्रनारायण, श्रीमाली, कृष्णमोहन (सं.), प्राचीन भारत का इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2018, पृ. 72

1 वही, पृष्ठ 35

1 वही, पृष्ठ 81

1 वही, पृष्ठ 83

1 शास्त्री, शंकरलाल, संस्कृत-वांगमय में पर्यावरण, हंसा प्रकाशन, जयपुर, 2009, पृष्ठ 1

1 वही, पृष्ठ 4

1 ज्ञा, द्विजेन्द्रनारायण, श्रीमाली, कृष्णमोहन, पूर्वोक्त, पृष्ठ 129

1 अथर्ववेद, 12.01.2012

1 अथर्ववेद, 4.3

1 मत्स्य पुराण, 154.512

1 मनुस्मृति, 8.285

अर्सकिन, के.डी., राजपुताना गजेटियर, खण्ड द्वितीय-ए, द मेवाड़ रेजीडेन्सी, स्काटिश मिशन इण्डस्ट्रीज कं. लिमिटेड, अजमेर, 1908, पृष्ठ 228

टॉड, कर्नल जेम्स, ट्रेवल्स इन वेस्टर्न इंडिया (हिन्दी अनुवाद), पश्चिमी भारत की यात्रा (अनु. एवं सम्पा.) गोपालनारायण बहुरा, राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1965, पृष्ठ 38-39

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण संरक्षण : दक्षिणी राजस्थान की जनजातियों के विशेष सन्दर्भ में

दिनेश चन्द शर्मा

भट्ट, नीरजा, 18वीं व 19वीं शताब्दी में भील समाज, हिमांशु पब्लिकेशंस, उदयपुर, पृष्ठ 212

हेन्डले, टी.एच.एन., अकाउन्ट ऑफ द मेवाड़ भील्स, जर्नल ऑफ द एशियाटिक ऑफ बंगाल, खण्ड 44, भाग 1, 1875, पृष्ठ 356

1 श्यामलदास, वीर विनोद, भाग 1, पृष्ठ 191

1 हेन्डले, टी.एच.एन. पूर्वोक्त

1 श्यामलदास, वीर विनोद, भाग 1, पृष्ठ 193

1 टॉड, कर्नल जेम्स, पूर्वोक्त, पृष्ठ 34

1 टॉड, कर्नल जेम्स, एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान, खण्ड तृतीय, पृष्ठ 1280

1 वशिष्ठ, विजय कुमार, भगत मुवमेण्ट, श्रुति पब्लिकेशन, जयपुर, 1997

1 ट्राईब पत्रिका, खण्ड 42-43, 2010-11

1 सिंह, महेन्द्र प्रताप, अनुसंधान विज्ञान शोध पत्रिका, अक्टूबर, 2013